जीवन दर्शन

9·2



वर्ष ६

अङ्क २



विषय-सूची

१.	सेवा की महिमा		१
२.	दया की जय हो (कविता)	: श्रीकृपाशंकरजी श्रीवास्तव	४
३.	राजरानी होते हुए भी सन्त	: एक मानव	५
४.	अस्तित्व का रूप	: कैप्टिन एस. एम.चंद्र रिटायर्ड	७
५.	सन्त वाणी		८
६.	गुरु-मन्त्र (कविता)	: श्रीसाधक मनोरञ्जनजी	१२
७.	रूस का महात्मा (जीवनी)	: काउण्ट लियो टाल्सटाय	१३
८.	साधकों के प्रति		१६
९.	पैदा क्या हुआ ?	: श्री रामसुमेर जी	१८
१०.	समुपलब्ध अभीष्ट	: श्रीस्वामी पूर्णानन्द जी (प्रीतमप्रभाकर)	२१
११.	सन्त-पत्रावली		२४
१२.	सुन्दर समाज का निर्माण		२७
१३.	साधकोपयोगी बातें (भगवान् में मन कैसे लगे ?)	: श्रीजीवन राम जी	२८
१४.	सब भगवान् की लीला है (कविता)	: श्रीबालेश्वरजी शर्मा 'बालेश'	३०
१५.	ईश्वर कहाँ है ?	('कल्याण' से साभार)	३१
१६.	संघ समाचार		३६
१७.	संस्थापक सदस्य		४०

विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग विकास की भूमि है।

जीवन-दर्शन

उद्देश्य

मानव-जाति के सर्वतोमुखी विकास की तथा कर्तव्य-परायणता
एवं साधन-निष्ठ जीवन की प्रेरणा देना।

वर्ष ६]　　वृन्दावन, फरवरी १९७१　　[अङ्क २

सेवा की महिमा



सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥

—*श्रीमद्भागवत ३-२९-१३,१४.*

अर्थ—भगवत्सेवा से रहित यदि सालोक्य, सार्ष्टि (भगवान के समान ऐश्वर्य की प्राप्ति) सामीप्य या सायुज्य नामक मोक्ष भी मिले, तो भगवद्भक्त उसे स्वीकार नहीं करते।

यही भक्तियोग आत्यन्तिक (परम) पुरुषार्थ कहा गया है। इसी से तीनों गुणों को लाँघ कर साधक मद्भाव को प्राप्त करता है।

व्याख्या–

परम पुरुष, परब्रह्म या परम सत्य से अभिन्न होना ही साधक का साध्य होता है। साध्यकी प्राप्ति हो सकती है केवल परिच्छिन्न अहन्ता के नाश से। अहन्ता का नाश विचार-पथ से चलकर भी होता है और आस्था-पथ से चलकर भी। कौन किस पथ को ग्रहण करे, यह निर्भर होता है साधक की रुचि, योग्यता और स्वभाव पर। आस्था-प्रधान हृदय वाले साधक की जब यह आस्था हो जाती है कि भगवान या परम पुरुष के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, वही परम सत्य है, तब समर्पण के सिवा उसके लिए कोई दूसरा विकल्प रह ही नहीं जाता। अहन्ता-ममता-कामनामय उसका सारा व्यक्तित्व समर्पित हो जाता है उसी परम पुरुष को।

समर्पण होने पर साधक का जीवन हो जाता है सेवामय। जिसकी आस्था में भगवान् के सिवा कुछ है ही नहीं, उसके लिए सारा जगत् भी भगवत्स्वरूप ही होता है, वह "ईशा-वास्य" हो जाता है। ईशावास्य या भगवन्मय होने से वह भोग्य नहीं रह जाता, भोगरूप में वह त्याज्य हो जाता है। तब वह हो जाता है सेव्य, अतः सेवा साधक का जीवन बन जाती है। सेवा ही वास्तविक भगवत् पूजा या उपासना है।

भगवत्समर्पित जीवन में सेवा या उपासना के अतिरिक्त कुछ रहता ही नहीं। जैसे भोग के लिए उसमें कोई स्थान नहीं रहता, वैसे ही मोक्ष की आकांक्षा के लिए भी नहीं रहता, क्यों कि जगत भगवद्रूप ओर सेव्य बन जाने से बन्धन-कारक रहता ही नहीं, बन्धन के अभाव में मोक्ष की आकाँक्षा कोई अर्थ नहीं रखती। भोग और मोक्ष की आकांक्षा के अभाव में साधक द्वारा केवल सेवा होने लगती है। इस प्रकार भोग और मोक्ष की अकांक्षा का त्यागी ही वास्तविक सेवा कर पाता है। यह त्याग ही सेवा को संभव बनाता है। इसीलिए भगवान् कपिल भक्ति का विवेचन करते हुए अपनी माता देवहूति से इन श्लोकों में कहते हैं कि भगवद्भक्त सेवा को छोड़ कर किसी प्रकार के भी मोक्ष की आकांक्षा नहीं करते।

त्याग के समान सेवा में प्रेम भी निहित रहता है। सेवा उस परम प्रेम को अभिव्यक्त कर साधक को कृत-कृत्य बना देती है। प्रेम के प्रवाह में अहंरूपी अणु गलकर वह जाता है और साधक त्रिगुणातीत जीवन को प्राप्त कर साध्य से अभिन्न हो जाता है। इसलिए मोक्ष तक की-

आकांक्षा का त्याग कर जीवन को भगवत्सेवामय बना देना ही भक्ति-योग है। वही आस्था-पथ के साधक का अन्तिम साधन है, आत्यन्तिक पुरुषार्थ है,जो साधक को त्रिगुणमयी माया के चक्कर से निकाल कर उसे भगवद्भाव की प्राप्ति करा देता है।

साधना-सूत्र

सुख की अपेक्षा शान्ति और शान्ति की अपेक्षा स्वाधीनता कहीं अधिक महत्व की वस्तु है, परन्तु स्वाधीनता में सन्तुष्ट होने पर अखण्ड एक रस की उपलब्धि तो होती है किन्तु अगाध अनन्त नित नव रस की माँग की उस समय तक पूर्ति नहीं होती जिस समय तक साधक स्वाधीनता को समर्पित कर परम प्रेम को प्राप्त नहीं कर लेता। प्रेम की प्राप्ति में ही साधन-तत्त्व से अभिन्नता हो सकती है। यद्यपि स्वाधीनता में किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता परन्तु रस की वृद्धि के लिए प्रेम-प्राप्ति अनिवार्य है। प्रेम दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देता। दूरी के अभाव में नित्य-योग और भेद के अभाव में तत्त्व-ज्ञान स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टि से साधन का आरम्भ अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्पों के त्याग में और साधन की पूर्णता प्रेम की प्राप्ति में निहित है, अथवा यों कहो कि साधन-तत्त्व से अभिन्न होने के लिए कामनाओं की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम-प्राप्ति अनिवार्य है।

—'साधन तत्त्व' से

दया की जय हो !

श्रीकृपाशंकरलाल जी श्रीवास्तव

जय हो देव ! तुम्हारी निश्छल,
निरुपम अमित दया की जय हो !

निर्बल की वह शक्ति अपरिमित
पाप-पंक में डूबे की गति
महामूढ़ की ज्योतिर्मय मति
जगह निराशा को न रंच भर
तुम करुणा के मृदुल हृदय हो !

तुम्हें जान कर डरे न कोई
मृत्यु-भीत हो मरे न कोई
तुम पर संशय करे न कोई
परित्यक्तों की परम शरण तुम
अग - जग पोषक नित्य सत्य हो !

विचरे मन प्रसन्न ध्यानस्थित
जग की करे न चिंता किंचित
तुम से ही अग - जग संरक्षित
जग - पीड़ा तव हृदयस्पन्दन
भव-दुख प्रति चिर करुणाशय हो !



राजरानी होते हुए भी सन्त

—एक मानव

प्रभु ईसामसीह के भौतिक शरीर का तिरोभाव हुए बारह शताब्दियाँ बीत चुकीं थीं, पर वे जो दिव्य प्रकाश अपने साथ लाये थे, उससे सारा यूरोप महाद्वीप आलोकित हो चुका था। ईश्वर-भक्ति और प्रेम-दया का उनका सन्देश झोपड़ी से लेकर राजमहल तक पहुंच चुका था। उसे ग्रहण करने वाले अपने जीवन को सार्थक कर रहे थे। उन्हीं में एक थी सैक्सनी (जर्मनी) देश की रानी एलिज़्वेथ।

एक दिन सैक्सनी की राज्य-सभा में एक भविष्य-वक्ता ने आकर एक गम्भीर घोषणा की कि हंगरी देश में एक ऐसा प्रकाशमान तारा उदित होगा कि जिसके जाज्वल्यमान प्रकाश से सारा देश जगमगा उठेगा। इसके थोड़े दिन बाद ही सन् १२०७ में हंगरी के राजा एन्ड्रयू को एक कन्या-रत्न की प्राप्ति हुई। उसका नाम रक्खा गया एलिजबेथ।

एलिज़बेथ रूप की आगरी तो थी ही, उसमें शैशवावस्था से ही उसकी भावी महत्ता के लक्षण भी प्रस्फुटित होने लगे। जैसे और बच्चे कहानियों के लिए दीवाने रहते हैं, वैसे ही एलिज़्वेथ ईश्वर-गुणानुवाद, तथा प्रभु ईसामसीह और सन्त-महात्माओं की जीवन-कथाएँ सुनने के लिए सदा उत्कण्ठित रहती थी। दीन-दुखियों की दशा देख उनका हृदय पिघल उठता था और उसके नेत्र दयार्द्र हो जाते थे। लोग समझने लगे कि एन्ड्रयू के यहाँ किसी देवी ने अवतार लिया है।

उस रूप की आगरी गुणागरी की कीर्ति-कथा फैलते-फैलते सैक्सनी के राजा हर्मेन के कानों तक पहुँची। उसे दैवज्ञ की भविष्य-वाणी याद आई। उसका पुत्र राजकुमार लुई भी बड़ा गुणवान और पवित्रात्मा वालक था। उसकी इच्छा हुई कि राजकुमार का विवाह एलिज़बेथ के साथ हो जाय, अतः उसने उच्च घराने की कुछ महिलाओं के साथ प्रतिष्ठित दरबारियों को विवाह-प्रस्ताव लेकर एन्ड्रयू के पास भेजा। इस प्रस्ताव से सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई और एन्ड्यू ने उसे स्वीकार कर लिया।

उस समय वहाँ के राजघरानों में यह प्रथा थी कि लड़कपन में राजकुमार और राजकुमारी का सम्बन्ध निश्चित होने पर राजकुमारी को जाकर अपनी भावी ससुराल में रहना पड़ता था और विवाहयोग्य वयस प्राप्त होने पर दोनों का विवाह कर दिया जाता था। इस प्रथा के अनुसार पाँच वर्ष की नन्हीं अवस्था में ही एलिज़बेथ अपने माता-पिता की गोद से निकल सैक्सनी के राज-परिवार में आ गई। राजा हर्मन को वह प्राणों के समान प्रिय थी। उसके परिवार में उसकी एक निकट सम्बन्धिनी पोलैण्ड की साध्वी रानी भी रहती थी। दोनों की धार्मिक-भावनाओं का प्रभाव एलिज़बेथ के हृदय का सिंचन करने लगा। धार्मिकता का बीज उसमें था ही, उपयुक्त सिंचन पा उसने सुन्दर लहलहाते वृक्ष का रूप धारण किया, भक्ति, वैराग्य, दया और प्रेम के सुन्दर पुष्प उसमें खिले, जो आस-पास के वातावरण को सुवासित करने लगे।

सैक्सनी आने के दो वर्ष पश्चात् उसकी स्नेहमयी माँ स्वर्ग को सिधार गई। एक षड्यन्त्रकारी शत्रु के आक्रमण से पति की रक्षा का प्रयत्न करती हुई वह मार डाली गई। इस समाचार का एलिज़बेथ पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने बुद्ध की भाँति संसार की अनित्यता का दर्शन कर लिया और यह समझ लिया कि जब संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है तो सब कामनाएँ निरर्थक हैं। उसी समय से एकमात्र भगवान ही उसके साध्य बन गये। प्रभु ईसामसीह के बारह शिष्यों में से सन्त जान को उसने अपना रक्षक मान लिया। प्रार्थना ही उसका साधन बन गई। "धन्य हैं दयावान्, क्योंकि वे ही दयामय की दया के अधिकारी हैं", प्रभु ईसा के इन शब्दों ने उसके हृदय पर अधिकार जमा रक्खा था। वह भोजन लेकर राजमहल से निकल पड़ती और दीन-दुखियों को तृप्त कर परम सन्तुष्ट होती।

थोड़े दिन पश्चात् राजा हर्मन के स्नेहमय संरक्षण से वह वञ्चित हो गई। वे स्वर्ग को सिधार गये। उसकी देख-रेख का सारा भार स्वर्गीय राजा की विधवा रानी सोफ़िया पर आ पड़ा। सोफ़िया विलासी स्वभाव की महिला थी। उसे एलिज़बेथ का त्याग-तपोमय जीवन पसन्द नहीं था। उस समय राजकुमार लुई भी विद्याध्ययन के लिए विदेश गये थे। सोफ़िया की पुत्री राजकुमारी एग्नेस को भी एलिज़बेथ का रहन-सहन पसन्द नहीं था। अतः एलिज़बेथ बड़े संकट में पड़ गई। उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पर

(शेष पृष्ठ ३४ पर देखिये)

अस्तित्व का रूप



—श्री कैप्टन एस. एम. चन्द्र (अवकाश प्राप्त)

न्यायाधीश— यह जागीर किस की है ?

साक्षी — हुजूर, मन्दिर जी की।

न्यायाधीश— मन्दिर जी किन का है ?

साक्षी — हुजूर, श्रीसीतारामजी का।

न्यायाधीश— इसका तात्पर्य हुआ कि सारी जागीर श्रीसीतारामजी की है।

साक्षी — जी हाँ, हुजूर बिल्कुल यही तात्पर्य है।

न्यायाधीश— आप क्या हैं ?

साक्षी — हुजूर, मुतवल्ली।

न्यायाधीश— आप क्या करते हैं ?

साक्षी — हुजूर, सारे प्रबन्ध का श्रेय ठाकुर जी ने मुझे बख्शा हुआ है।

न्यायाधीश— तात्पर्य, कि आप इस जागीर के प्रबन्धक हैं।

साक्षी — जी हाँ, हुजूर, यह इज्जत मुझे बख्शी है।

न्यायाधीश— आप क्या करते हैं ?

साक्षी — जो मेरे मन में आता है।

न्यायाधीश— आपके मन में क्या आता है ?

साक्षी — जो श्रीसीतारामजी की इच्छा होती है।

न्यायाधीश— इच्छा का पता कैसे हो ?

साक्षी — आप प्रयास कर देखिये जो उनकी इच्छा होगी वह अवश्य होगा और जो नहीं होगी तो कदापि नहीं होगा।

न्यायाधीश— इसका कोई नियम भी है ?

साक्षी — जी हाँ हुजूर, है ! बहुत सीधासा है। नीयत में नेकी और दिल में दर्द मेरा काम है और इससे आगे का सारा प्रबन्ध और सुविधाएँ मुझे ठाकुर जी भेज देते हैं और मैं उनकी आज्ञा का पालन करता रहता हूँ।

न्यायाधीश— कोई कागज, पत्र, लिखापढ़ी नहीं है ?

साक्षी — हुजूर मुझ में केवल आज्ञा समझने की ही बुद्धि भगवान् ने दी है। इसके अतिरिक्त देखना, सुनना, जानना, मानना मेरी शक्ति और बुद्धि के परे है। ●

संत वाणी

चित्त-शुद्धि



(*गतांक से आगे*)

जानने के सम्बन्ध में दो ही प्रश्न उठते हैं कि "यह क्या है" अर्थात जो प्रतीत हो रहा है वह क्या है और 'मैं', जिसका भास हो रहा है– क्यों कि अपना भास होता ही है— उसका स्वरूप क्या है? हर एक भाई को, हर एक बहन को यह मालूम होता है कि "मैं हूँ"। यदि मैं कहता हूँ कि 'मैं हूँ', तो "मैं क्या हूँ"? इसके सम्बन्ध में जिज्ञासा हो सकती है, या "यह क्या है"? इसके सम्बन्ध में जिज्ञासा हो सकती है। आप पूछेंगे–"क्या प्रभु के सम्बन्ध में जिज्ञासा नहीं हो सकती"? "नहीं हो सकती"। "क्यों"? जिसके सम्बन्ध में अधूरी जानकारी होती है, उसीके सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है और जिसके सम्बन्ध में जानकारी होती ही नहीं उसके सम्बन्ध में विश्वास होता है, जिज्ञासा नहीं होती। अधूरी जानकारी से सन्देह पैदा होगा। जिसके सम्बन्ध में कुछ जानते ही नहीं, उसके सम्बन्ध में कभी सन्देह नहीं होता। आप कोई अपना ऐसा सन्देह बतावें कि जिसके सम्बन्ध में आप कुछ न जानते हों और सन्देह होता हो। आप कहेंगे कि हम तो लोगों से यह सुनते हैं कि बिना जाने प्रीति नहीं होती। यहां जानने का अर्थ क्या है? ग्रन्थ के द्वारा, गुरु के द्वारा कोई बात आप सुनते हैं और उस पर जो श्रद्धा करते हैं उसको ज्ञान की संज्ञा दे देते हैं। हमारी श्रुति में लिखा है कि 'ब्रह्म है' इसलिए 'ब्रह्म है।' यह कोई ज्ञान थोड़े ही है। यह तो आपका विश्वास है। कोई कहेगा कि कुरान में लिखा है कि खुदा है, बाइबिल में लिखा है कि God है, इसलिए God है। गुरु और ग्रन्थ के द्वारा जो बात मानते हैं वह आपका ज्ञान नहीं, वह तो आपका विश्वास ही होता

है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर वाद के सम्बन्ध में सबका विश्वास है, ज्ञान किसी को ज्ञान नहीं है। परन्तु लोग इसी के आधार पर परस्पर विवाद करते हैं। कोई कहता है, ईश्वर ऐसा है, कोई कहता है, ईश्वर वैसा है। वास्तव में आप जैसा कहते हो वैसा भी है, लेकिन उतना ही नहीं है, उसके आगे भी है। कहने का तात्पर्य यह है कि आप के जीवन में स्वभाव से ही प्रभु-विश्वास है। लोग कहते हैं, कि हमें कोई ऐसा भक्त मिल जाता, ऐसा महात्मा मिल जाता, जिसे प्रभु प्राप्त होता, तो हमारा मन साधन में लग जाता। हम आप से दावे के साथ कहते हैं कि ऐसे महात्मा आप को नित्य मिलें तो भी आपका मन नहीं लगेगा, क्यों कि विश्वास के मार्ग में प्रमाण अपेक्षित नहीं है, उदाहरण अपेक्षित नहीं है, विश्वास के मार्ग में अगर उदाहरण मिल भी गया तो ऐसे जितने उदाहरण होंगे सब बुद्धि जन्य होंगे या इन्द्रिय जन्य होंगे, जितने प्रमाण होंगे सब विश्वास-जन्य ही होंगे। यदि आपके प्रमाण विश्वासजन्य हों, यदि आपके उदाहरण बुद्धि-जन्य हैं तो मैं आप से पूछता हूँ कि आपका मार्ग विश्वास मार्ग कैसे सिद्ध होगा? कभी सिद्ध नहीं होगा। इसलिये जिन्हें भक्त होना है उन्हें इस बात का पूरा निर्णय कर लेना चाहिये कि चाहे संसार में एक भी भगवत्-प्राप्त पुरुष न मिले, एक भी गवाह न मिले, एक भी प्रमाण न मिले, और भगवान भी न मिले तब भी मैं मानता हूँ कि भगवान है। इसका नाम है आस्तिक होना। किसी भाई ने थोड़े दिन साधन किया और भगवत्-दर्शन न हुआ, भगवत्-प्रीति नहीं हुई, फिर किसी अनीश्वर-वादी ने तर्क सामने रख दिया तो ईश्वर वाद उड़ गया। कहेंगे अब तो हम वेदान्ती हो गये। भाई! ऐसे जो भक्त हैं वे भक्ति नहीं कर सकते। मैं तो कहता हूँ कि भगवान कसम खा ले कि हम कभी नहीं मिलेंगे और त्रिकाल में भी कोई प्रमाण न मिले, कोई उदाहरण न मिले और कोई यह भी कहे कि यदि तुमने भगवान को मान लिया तो घोर नरक भोगना पड़ेगा और फिर भी हृदय में यह भाव अडिग रहे कि भगवान को अपना मान कर चाहे घोर नरक भी भोगना पड़े लेकिन यह बात हमारे जीवन से निकल नहीं सकती कि "भगवान हमारे अपने हैं।" ऐसा जो व्यक्ति है उसका नाम है भक्त। भक्त होने से भी चित्त शुद्ध हो जायगा और चित्त-शुद्ध होने से भक्ति आ जायगी। जिज्ञासु होने से भी चित्त शुद्ध हो जायगा और जिज्ञासा जागृत होने से निस्सन्देहता आ जायगी। ऐसे ही

सेवक होने से भी चित्त शुद्ध हो जायगा और चित्त-शुद्धि होने से सेवा की अभिव्यक्ति हो जायगी। सेवा की अभिव्यक्ति का अर्थ यह होगा कि सभी को अपना सकेंगे और किसी से कुछ नहीं चाहेंगे। अब थोड़ा विचार कीजिये। जो कुछ नहीं चाहता वह मुक्त है या नहीं ? आपको मानना पड़ेगा कि वह मुक्त है, और जो सभी को अपना सके, वह भक्त है या नहीं ? आप को मानना पड़ेगा कि वह भक्त है। तो देखिये, सेवा करने से भी प्राणी मुक्त हो सकता है, भक्त हो सकता है। अब दूसरी ओर सोचिये कि जब जिज्ञासा की जागृति से समस्त कामनाओं का नाश हो गया तो आप भक्त हैं या नहीं ? और कामना नाश होने से तत्त्व में प्रतिष्ठा हो गई तो आप मुक्त हैं या नहीं ? देखिये, जिज्ञासा होने से भी आप मुक्त हो सकते हैं, भक्त हो सकते हैं और भक्त होने से भी, जिससे आपका सम्बन्ध नहीं रहा, उससे आप मुक्त हैं और जिससे आपका सम्बन्ध हो गया उसके आप भक्त हैं। प्रत्येक साधक मुक्त भी हो सकता है, भक्त भी हो सकता है। मुक्त होने से ऐश्वर्य प्राप्त होता है और भक्त होने से माधुर्य। और ईश्वर का स्वरूप क्या है ? प्रत्येक ईश्वरवादी कहेगा कि जिसमें अनन्त ऐश्वर्य हो, अनन्त माधुर्य हो वह ईश्वर है। अनन्त ऐश्वर्य का अर्थ है कि जिस पर कोई विजयी न हो सके, अनन्त माधुर्य का अर्थ है कि जो सभी को अपना सके, सभी का परम सुहृद हो, उसी को तो कहते हैं माधुर्य। और ऐश्वर्य और माधुर्य ही वास्तव में जीवन है। इसके अतिरिक्त कोई जीवन नहीं है, और वह सब को प्रिय है, किसी को अप्रिय नहीं। अच्छा, अब प्रेम का स्वरूप देखिए। प्रेम के स्वरूप पर विचार करने पर आपको मानना होगा कि जिसमें चाह न हो और जिसमें भिन्नता की गन्ध भी न हो, वही प्रेम है। इसे चाहे आप प्रेम कह दो चाहे ऐश्वर्य,और माधुर्य कह दो। चाहे उसका नाम आप भगवान् कह दो, चाहे उसका नाम भक्ति कह दो, चाहे उसका नाम आप मुक्ति कह दो चाहे उसका नाम आप शान्ति कह दो। क्योंकि जिस पर कोई विजयी नहीं हो सकता, उसे ही तो शान्ति मिलेगी। वहीं तो क्षोभ से रहित होगा। क्षोभ से रहित कौन होगा ? किसी भी प्रकार का आक्रमण जिस को क्षोभित न कर सके। तो कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे चिर शान्ति के नाम से कहो, चाहे दुःख-निवृत्ति के नाम से कहो, चाहे परमानन्द प्राप्ति के नाम से कहो, चाहे ऐश्वर्य या माधुर्य-प्राप्ति के नाम से कहो और चाहे भक्ति और मुक्ति के

नाम से कहो, वस्तु एक ही है, जीवन एक ही है और मान्यताएँ अनेक हैं। इस दृष्टि में यदि हमें और आपको चित्त-शुद्धि करना है तो चाहे तो अपने को सेवक मान लो, चाहे जिज्ञासु मान लो चाहे भक्त मान लो। इनमें से किसी भी एक की मान्यता को धारण करने से आपका चित्त शुद्ध हो सकता है।



विश्वास और साधन

★

बीज रूप से विश्वास प्राणि-मात्र में विद्यमान है, क्योंकि कोई ऐसा व्यक्ति है ही नहीं जिसमें किसी न किसी प्रकार का विश्वास न हो।

अपने को देहमान लेना, अथवा किसी वस्तु को अपना मान लेना विवेक-विरोधी विश्वास है।

विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग निज विवेक के आदर में ही निहित है।

विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग जिज्ञासा की जागृति में समर्थ है। जिज्ञासा की जागृति कामनाओं की निवृत्ति में हेतु है और कामनाओं का नाश होते ही जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है।

जिस वास्तविक जीवन की प्राप्ति जिज्ञासु को दर्शन के द्वारा होती है उसी जीवन की प्राप्ति विश्वासी को विश्वास के द्वारा होती है। और वही जीवन कर्त्तव्यनिष्ठ को कर्त्तव्य - परायणता से प्राप्त होता है।

गुरु-मन्त्र

साधक मनोरंजनजी द्वारा पद्यबद्ध

प्राप्त विवेक प्रकाश में, प्राप्त शक्ति अनुसार ।
प्राप्त परिस्थिति का सदा, करो सही व्यवहार ।।
सही वही व्यवहार है, सब अप्राप्त का त्याग ।
दृढ़ता हो वैराग्य में, प्रीति उठेगी जाग ।।

नितनव रस है प्रीति में, नितनवीन नित प्राप्त ।
वर्तमान मिटता नही, वर्तमान नित व्याप्त ।।
वर्तमान की जय कहो, भूत भविष्यत छोड़ ।
जो अप्राप्त सम्मुख नहीं, उससे लो मन मोड़ ।।

क्या करना है क्या नहीं, इसकी चिन्ता व्यर्थ ।
होने में करना निहित, होना सर्व समर्थ ।।
आवेंगे सम्मुख स्वयं सब आवश्यक कर्म ।
उन्हें सदा करते चलो, पालन करो स्वधर्म ।।

जैसी अपनी योग्यता, वैसे होंगे काम ।
अपना यह कर्त्तव्य है, लगे रहें निशियाम ।।
जो तुम कर सकते नहीं, उसका करो न ध्यान ।
निष्ठा होवे सत्य में, छोड़ो मत ईमान ।।

जो अप्राप्त सम्मुख नहीं, करो न उसकी याद ।
प्राप्त प्राकृतिक न्याय है, करो नहीं फरियाद ।।
लोभ न करो अप्राप्त का, मत हो उससे भीत ।
प्राप्त सदा है सामने, प्रेमास्पद की प्रीत ।।

'पर' का करो न आसरा, हरदम रहो स्वतन्त्र ।
'स्व' केवल भगवान हैं, यही गुरू का मन्त्र ।।



रूस का महात्मा

(काउंट लियो टाल्सटाय)

आज से पौने दो हजार वर्ष पूर्व भारत में एक राजकुमार का जन्म हुआ। दास-दासियाँ, वैभव-विलास, शक्ति-अधिकार सभी उसके इंगित की प्रतीक्षा में थे। वह शूर-वीर था, साहसी था और था कुशाग्र-बुद्धि। युग की प्रवृत्तियों का प्रभाव हुआ, देशों को जीतने की इच्छा प्रबल हुई और एक बड़ी सी सेना के साथ उसने कलिंग पर आक्रमण किया। हजारों लाखों मनुष्यों की हत्या, मार-काट और करुण चीत्कार से उत्पन्न विलाप, दुर्दशा, पीड़ा, विनाश सभी जैसे एकत्रित होकर उसके हृदय में रो पड़े। राजकुमार को अपने कृत्य से घृणा हो गयी। इस आघात से जैसे उसकी कठोर-प्रवृत्तियाँ टूक-टूक हो गईं और साथ ही सोई हुई कोमल-वृत्तियाँ जीवित और जाग्रत हो पड़ीं। हिंसक अहिंसक हो गया, कठोर कोमल हो गया और पशु-बल का प्रेमी मानवता का उपासक हो गया। वह सत्य-अहिंसा और धर्म का पुजारी बन गया और जीवन भर स्वयं इनका पालन करता हुआ करोड़ों व्यक्तियों को सन्मार्ग दिखाता एवं उसे सुलभ बनाता हुआ इतिहास में "महान्" हो गया।

आज फिर हमने देखा कि पश्चिम में इसी प्रकार राज-भवन में उत्पन्न होने वाले एक राजकुमार ने आरम्भ में बड़ा विलासी जीवन व्यतीत किया। उसके पास भी वैभव-विलास के सामान प्रस्तुत थे, उतने अधिक रूप में नहीं, फिर भी थे अवश्य। उसने इन्हीं को जीवन का वास्तविक आनन्द समझ कर अपने को पूरी तरह उसी में डुबो दिया। वह वीर था, साहसी था और उत्साही था। उसने लड़ाइयाँ लड़ीं, द्वन्द युद्ध किये और जीवन के कई भयंकर दृश्य देखे। एकाएक उसकी आत्मा हाहाकार कर उठी। उसने युद्ध करना छोड़ दिया, विलासी जीवन त्याग दिया और सदाचार तथा पवित्र जीवन की ओर अग्रसर हुआ। उसने स्वयं प्रकाश प्राप्त करके पश्चिम के करोड़ों व्यक्तियों को प्रकाश दिखाया। अपनी इस महानता के कारण जैसे वह

वास्तविक जीवन का मार्ग दिखाता हुआ आज भी अमर है। इन्द्रलोक, चन्द्रलोक, किसी लोक में अमरता नहीं है। इसी पृथ्वी ने किन्हीं-किन्हीं लोगों को अमरता प्रदान की है। उन्हीं इने-गिने महामानवों की कीर्ति के बीच महात्मा टाल्सटाय की कीर्ति सदैव चमकती रहेगी।

टाल्सटाय का जन्म रूस देश में टूला के निकट यासनाया पोलयाना नामक ग्राम में २८ अगस्त, १८२८ ईस्वी, को हुआ। टाल्सटाय के माता-पिता दोनों ही उच्च घराने के थे। टाल्सटाय-वंश रूस के इतिहास में प्रसिद्ध है। इस वंश को 'काउन्ट' की उपाधि प्राप्त थी। टाल्सटाय की माता भी एक उच्च घराने की रमणी थी। उसके बहुत से निकट-सम्बन्धी बड़े-बड़े सेनापति रह चुके थे। टाल्सटाय के पिता का नाम काउन्ट निकोलस टाल्सटाय और माता का नाम प्रिन्सेज मेरी बालकन्सकी था। रवीन्द्रनाथ टैगोर की ही भाँति बाल्यावस्था में उनकी माता का देहान्त हो गया। उस समय वह एक वर्ष और दो मास के थे। कुछ ही वर्षों बाद जब उनकी अवस्था नौ वर्ष की हुई उनके पिता भी चल बसे। इस समय टाल्सटाय के चार भाई और एक बहन थी। परिवार में उनके पालन-पोषण का भार उनकी फूफी पर पड़ा किन्तु वास्तव में तो वह टटियाना यरगोल्सन्मी नामक एक उदार और सच्चरित्र महिला की देख--रेख में रहे। यह महिला बड़ी उदार और आदर्शवान थी। वह स्वयं टाल्सटाय के पिता पर आसक्त थी और वह भी उससे विवाह करना चाहते थे, किन्तु एक उच्च वंश की स्त्री से उनका विवाह कराने की खातिर उसने उनसे विवाह नहीं किया था। टाल्सटाय की माता के मर जाने पर फिर विवाह का समय आया। किन्तु उसने फिर भी ऐसा नहीं किया—केवल इसी विचार से कि बालकों की ओर से शायद उसके पिता की उपेक्षा बढ़ जायेगी और वह अपनी पहिली पत्नी को भूल जायँगे। उनके निधन पर उसने उनके पालन-पोषण का कार्य पूरी तरह अपने ऊपर ले लिया और माता की भाँति उनका पालन-पोषण किया। इस प्रकार की उदारता एवं सच्चरित्रता के उदोहरण संसार के इतिहास में बहुत कम मिलेंगे। इस उदार महिला की देख-रेख में उनका पालन-पोषण होने लगा। वह टाल्सटाय से बहुत प्रेम करती थी। उसके प्रेम का टाल्सटाय पर बहुत प्रभाव भी पड़ा। उसके प्रेम ने उन्हें प्रेम में रंग दिया, वह प्रेम के आनन्द को समझने लगे। अपनी इस नई माता के प्रभाव के ही कारण टाल्सटाय ने दूसरा महत्व-

पूर्ण पाठ जो पढ़ा वह था शान्त तथा एकान्त-जीवन के सौन्दर्य के प्रति आकर्षण । टाल्सटाय अपनी बाल्यावस्था में ही अपने आस-पास के भाई-बहिनों तथा पड़ोसियों से भी प्रेम करते थे ।

उनकी अपने बड़े भाई निकोलस से बहुत पटती थी । इस छोटी ही उम्र में उनमें विश्व-बन्धुता तथा वश्व-कल्याण की भावना मौजूद थी । उन दोनों ने मिलकर इस छोटी उम्र में ही 'आंट ब्रदर्स' नामक एक संस्था की स्थापना की । इस संस्था का उद्देश्य था संसार भर के लोगों को भ्रातृ-प्रेम में बाँधना ।

किन्तु युवावस्था में एक वार भोग-विलास में पड़ गये और आत्मिक तथा नैतिक दृष्टि से उनका बहुत पतन हुआ । उन्होंने युद्ध में नर हत्यायें कीं, लूट-मार, मद्यपान, निर्दयता आदि बहुत से बुरे काम किये । इनमें धार्मिक आचारों के प्रति भी अश्रद्धा थी । अपने बड़े भाई डिमेद्री को प्रतिदिन गिरजा में जाते हुए और व्रत रखते देखकर उस पर हँसा करते थे । किन्तु इस अविश्वास और अश्रद्धा के होते हुये भी सत्य को जानने की उनकी इच्छा कम न हुई ।

सेबस्टोपोल में ही पहली बार उनके विचारों में क्रान्ति हुई । उन्होंने सेवस्टोपोल के अस्पताल में उन बाईस हजार व्यक्तियों को कष्ट सहते देखा, जो कि युद्ध में तोपों और बन्दूकों से आहत हो चुके थे । वीरता और उसका दुःखान्त परिणाम देखकर उनके विचारों को एक धक्का सा लगा और उनकी दिशा बदल गई । उनमें उदारता वा सदाशयता का उदय हुआ । पेरिस में उन्होंने एक आदमी को फाँसी दिये जाते हुये देखा । इस हृदय-विदारक दृश्य से उनके कोमल हृदय को बड़ा आघात लगा और वह प्राण-दण्ड की प्रथा के विरोधी हो गये । सन् १८६० में उनके बड़े भाई का देहान्त हो गया । अपने भाई की मृत्यु की घटना का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा । उनके हृदय पर जीवन के दुःखद परिणाम का चित्र अङ्कित हो गया । विलासी जीवन, युद्ध की भयानकता, फाँसी और मृत्यु, एक के बाद एक उनके विचारों में क्रान्ति मचाते गये । यही उनके महात्मापन की भूमिका है । उनके हृदय में सत्यान्वेषण की चाह बलवती हो गई ।

(अपूर्ण)



साधकों के प्रति

माँग की पूर्ति

कर्तव्यपरायणता, अर्थात् प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का यह शुभ परिणाम होना चाहिये कि साधक अपने में संतुष्ट हो जाय, यह वैधानिक तथ्य है। अपने में जीवन तथा जीवनधन हैं, इस वास्तविकता में अविचल आस्था रखनी चाहिये। जीवन जड़ता, अभाव, पराधीनता, नीरसता आदि दोषों से रहित है– उसीको जीवन कहते हैं। जीवन में चेतना है, स्वाधीनता है और सरसता है, जिसकी माँग साधक को स्वभाव से रहती है। जीवन की माँग से ही काम का नाश होता है और काम-रहित होते ही देहाभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही सभी समस्याएं स्वतः हल हो जाती हैं, यह अनुभव सिद्ध सत्य है। साधक को वास्तव में अपने लिये किसी भी काल में शरीर की आवश्यकता नहीं है। शरीर के सदुपयोग से परिवार, समाज एवं संसार के अधिकारों की रक्षा होती है, अधिकारों की रक्षा हो सकती है। इससे भिन्न शरीरों का कोई उपयोग नहीं है। शरीर का सदुपयोग साधक को विद्यमान राग से रहित कर देता है और विवेक पूर्वक असंग होने से फिर नवीन राग उत्पन्न ही नहीं होता। राग-रहित भूमि में योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो साधक की वास्तविक माँग है, जिसकी पूर्ति होने पर साधक साध्य से अभिन्न हो जाता है। शरीर का सदुपयोग और उससे असंगता अनिवार्य है, पर यह तभी सम्भव होगा जब साधक श्रद्धा, विश्वासपूर्वक अपने ही में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करे—जिसकी वास्तविक माँग है, उसके अस्तित्व को स्वीकार करना सहज तथा स्वाभाविक होना चाहिये। माँग उसी की होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। जिस का स्वतन्त्र अस्तित्व है, वही सभी साधकों का साध्य है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता वह कभी किसी का साध्य नहीं हो सकता। यह सभी को विदित है कि किसी भी परिस्थिति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतएव परिस्थिति साधन-सामग्री हो सकती

है, साध्य नहीं। साधन-सामग्री का सदुपयोग और साध्य की माँग की जागृति में ही साधक का परम पुरुषार्थ है, जिसकी स्वाधीनता प्रत्येक साधक को जन्मजात प्राप्त है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में असफलता तथा निराश होने के लिये कोई स्थान ही नहीं है। साध्य में अविचल आस्था न रखने से और परिस्थिति का सदुपयोग न करने से साधक असफल होता है। असफलता वैधानिक तथ्य नहीं है, अपितु साधक का अपना प्रमाद है, जिसकी निवृत्ति के लिये ही सत्संग योजना है। सत्य को स्वीकार करना ही सत्संग है। अपने में अपना प्रेमास्पद है, यह सत्य है। किसी परिस्थिति में जीवन नहीं है, यह विचारकों का अनुभव है। अपने में अपने प्रियतम हैं, यह आस्थावान साधकों की अविचल आस्था है। विचार से संसार की निवृत्ति होती है और आस्था से प्रेमास्पद की प्राप्ति। इस दृष्टि से ज्ञान का आदर, निर्विकल्प आस्था साधक के जीवन में सदैव रहनी चाहिये। बल का सदुपयोग तो प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही हेतु है। बल के दुरुपयोग का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। मानव संज्ञा आरम्भ ही तब होती है, जब साधक बल का दुरुपयोग नहीं करता। बल के सदुपयोग से बल का अभिमान गल जाता है और फिर साधक बड़ी ही सुगमता पूर्वक अपने में संतुष्ट होकर अपने परम प्रेमास्पद को पाकर कृत-कृत्य हो जाता है।

अपने में संतुष्ट हुए बिना कभी किसी को किसी प्रकार भी चैन से नहीं रहना चाहिये। अपने में संतुष्ट होने के लिये निर्मम, निष्काम तथा असंग होना अनिवार्य है, जो एकमात्र निज ज्ञान से सिद्ध है। ज्ञान का आदर, बल का सदुपयोग तथा निर्विकल्प आस्था में ही जीवन का तत्व है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने साध्य की प्राप्ति को वर्तमान की आवश्यकता अनुभव किया है। साधना साधक का स्वरूप और साध्य का स्वभाव है। सत्संग से साधक में स्वतः साधना की अभिव्यक्ति होती है। अकर्तव्य, असाधन और आसक्ति असत्य के संग का ही परिणाम है। सत्संग से स्वतः साधक में साधन-परायणता आ जाती है। अतः सत्संग ही साधक का प्रथम और अन्तिम पुरुषार्थ है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी को सत्संगी बनाएँ, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार !

●

पैदा क्या हुआ ?

● श्रीरामसुमेरजी



मानव-बुद्धि पैदा होने और मरने के प्रश्न को आदि काल से सुलझाने का प्रयत्न करती आ रही है, किन्तु किसी हल पर संतोष नहीं होता और न हीं किसी हल के द्वारा जीवन चल ही पाता है। अतः अनेक विद्वानों ने इस प्रश्न को अतिप्रश्न कहकर त्यागने का प्रयास किया है, और जीवन में मात्र दुःख और अशान्ति की समस्या का हल खोजना चाहा है, लेकिन इतने पर ही मानव-बुद्धि संतुष्ट नहीं होती।

स्वामीजी का वतलाया एक सूत्र है कि—विधान से ही प्रत्येक प्रश्न में उसका हल छिपा रहता है, केवल विचारवान पुरुष ही अपने विवेक का आदर कर उसको जान सकता है। अतः यदि हम अपने विचार में भावों को सुलझा सकें, तो हमको निश्चय ही समाधान मिल जाता है।

पैदा होने के भाव से हमारा विचार हमको क्या बतलाता है ?

बीज से पेड़ पैदा हुआ, मिट्टी से घड़ा पैदा हुआ, तन्तु से पट पैदा हुआ—इत्यादि।

इन भावों को यदि हम विचार में देखें तो हमको ज्ञात होगा कि मूल प्रश्न यह है कि—पैदा जो हुआ वह पैदा होने के पूर्व था कि नहीं—और कुछ विद्वान विवेक का आदर न कर मात्र बुद्धि-दृष्टि से प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं कि-यदि मान लें कि पैदा होने के पूर्व जो पैदा हुआ वह था, तो फिर पैदा क्या हुआ—और यदि पैदा होने के पूर्व वह नहीं था, तो पैदा कैसे हो गया ? कहीं आकाश में फूल, वन्ध्या में पुत्र और खरगोश में सींग हो सकते हैं ?

अतः जो पैदा हुआ, वह पैदा होने के पूर्व न था और न नहीं था। जैसे—रस्सी में साँप, मरु में मरीचिका और सीप में चाँदी।

किन्तु बन्धु मेरे, यह तो बुद्धि-दृष्टि का खोखलापन है, यह तो मात्र

इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव का परिणाम है। कहीं रस्सी में साँप पैदा होता है, यह तो इन्द्रिय को भ्रम होता है, बुद्धि-दृष्टि से देखने पर इसका मिथ्यापन स्पष्ट हो जाता है।

इस इन्द्रिय-दृष्टि से भ्रम के प्रभाव में आने वाले विद्वानों ने ही कह दिया कि तीनों कालों में न कुछ पैदा हुआ और न पैदा होता है, यह परिवर्तन सब भ्रम है, जैसे—रस्सी में साँप। किन्तु इस दृष्टि से प्राप्त उत्तर को बुद्धि-दृष्टि में चाहे जितना बिठावें, किन्तु दर्शन पैदा होने और मरने को सत्य ही देखता है।

विवेक-दृष्टि का आदर करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि कुम्हार ने घड़ा मिट्टी से बनाया है! घड़ा मिट्टी से निम्न तीन बातों में पृथक है-नाम, रूप और व्यवहार।

घड़े का नाम मिट्टी में नहीं था, घड़े का रूप मिट्टी में नहीं था और घड़े का व्यवहार मिट्टी में नहीं था। सब विशेषताएँ मिट्टी में नई पैदा हो गई हैं और इनके पैदा करने का श्रेय कुम्हार को है। मिट्टी में घड़े के गुण अव्यक्त थे, कुम्हार ने नाम-रूप और व्यवहार देकर वे गुण व्यक्त कर दिये हैं। इसी प्रकार पेड़ बीज से नाम-रूप और व्यवहार में पृथक है।

विवेक हमको स्पष्ट बतलाता है कि पदार्थ स्वयं किसी विशिष्ट संघात में आ ही नहीं सकता, जो नाम-रूप और व्यवहार की संज्ञा ले। एक मिट्टी का ढेर घड़ा स्वयं नहीं बन सकता और न हीं बीज के तत्त्वों को विघटित कर देने पर वे तत्त्व बीज का नाम-रूप और व्यवहार धारण कर सकते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि पदार्थ को एक विशिष्ट संघात में आने के लिये उससे अन्य कोई सामर्थ्य ही इसका हेतु है।

जिस प्रकार मिट्टी के बिना कुम्हार घड़े को पैदा नहीं कर सकता, उसी प्रकार सामर्थ्य पदार्थ के अस्तित्व के अभाव में सृष्टि की वस्तुओं का निर्माण नहीं कर सकती।

वास्तविकता तो यह है कि पैदा होने वाले ये नाम-रूप और व्यवहार नहीं से हाँ होते हैं और पदार्थ के अव्यक्त गुणों को व्यक्त करते हैं। इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि आदि पदार्थ बिना नाम, बिना रूप और बिना व्यवहार के था, किन्तु वह परिणामिनी गुणों वाला अपने अन्दर अनेक गुणों को छिपाये था। सामर्थ्य ने निमित्त होकर, उसका नाम-रूप और व्यवहार देना शुरू किया और उसको स्थल-स्थल पर काल (संवत्सर) में बाँध दिया, जिससे स्वतः चालित व्यवहार बीज

से पेड़ और पेड़ से बीज पैदा होने लगा, इससे उस मूल पदार्थ के अव्यक्त गुण व्यक्त होते गये, जिनसे जीवों के भोगों की पूर्ति होने लगी।

ये नाम-रूप और व्यवहार ही असत् है, मात्र गुण ही सत्य है, किन्तु इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव इन नाम-रूप और व्यवहार के चंगुल में व्यक्ति को आवद्ध कर लेता है। यदि हम इस सत्य को समझ कर असत् से असङ्ग होकर सत् गुण से संग कर अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति कर चाह से अचाह हो जायँ तो हमारा जीवन सफल हो सकता है।



बिखरे सुमन

●

ज्ञान पाप हो जाता है, यदि उद्देश्य शुभ न हो।

—अफलातून

बादलों की तरह सज्जन भी जिस वस्तु को ग्रहण कर लेते हैं, उसका दान भी करते हैं।

—कालीदास

यह ज्यादा अक्लमन्दी की बात है कि हम उस खुदा की बातें कम करें जिसे हम समझ नहीं सकते और उन इन्सानों की बातें ज्यादा करें जिन्हें हम समझ सकते हैं।

—खलीलजिब्रान

"राजे-हस्ती राज़ है जब तक कोई मरहम (भेदी) न हो,
खुल गया जिस दम तो मरहम के सिवा कुछ भी नहीं"

—इकबाल

●

समुपलब्ध अभीष्ट

श्री स्वामी पूर्णानन्द जी
(प्रीतम 'प्रभाकर')



मनोज को सेवा की धुन थी। वह सेवा-संस्थाओं की सदस्यता ग्रहण करने में गौरव अनुभव करता और उनके माध्यम से पीड़ित मानव की सेवा कर आत्म-तोष।

मनोज की आर्थिक-स्थिति कोई विशेष अच्छी नहीं थी—वह पर-पीड़ा से करुणित होने वाला सेवा-भावी युवक था। उसमें उत्साह और लगन भी कोटि की थी। जब संस्था ने कुम्भ के मेले में सेवा शिविर लगाने की बात तय की, उसकी खुशी का कोई ठिकाना न था।

* * * *

थका-हारा मनोज अपनी ड्यूटी से लौटा। शिविर में लेटे-लेटे ही उस ने अमृत-वाणी सुनी। मनोज मन्त्र मुग्ध हो गया। उसे तब स्मरण हो आया, जब प्रवचन के अन्तिम शब्द भी उसके मानव में गोते खा कर शान्त हो गये मनोज ने निश्चय किया कि उस महामना के दर्शन करने चाहिये जिसके प्रवचन के कुछेक शब्द ही उस पर जादू कर गये थे।

दूसरे दिन दोपहर में सुस्ताने के बजाय उसने उस शिविर की ओर प्रस्थान किया जहाँ सन्यासियों ने अपना अस्थाई आश्रम बना रखा था। दोनों शिविरों में कोई विशेष दूरी नहीं थी फिर भी मनोज को उस भीड़-संकुल-पथ पर चलने में काफी समय लग गया। ढेर सारे प्रश्नों में महात्मा के समक्ष पहिले पहुंचने की होड़ लग रही थी। मनोज ने परेशान होकर उन सब को एक ओर धकेल दिया और कहा कि मैं स्वयं पहले पहुँचूंगा प्रश्न बन कर और वह इसी निश्चय के साथ शिविर में घुसा।

मनोज साधु-वेश को ही नमस्कार करने वाला सुशील युवक था। वह उन महात्मा जी के समक्ष पहुँचा जिनकी वाणी में दिव्य ओज था, जिनके ललाट पर ब्रह्मचर्य की सौम्य आभा थी। मनोज ने सारा साहस बटोर समाधिस्थ महात्मा को नमस्कार किया और आगन्तुकों के लिए रखे आसन पर सकुचाता हुआ बैठ गया।

स्वामी जी ने "हरि ओ३म्"

शब्द के साथ समाधि तोड़ी और सन्मुख बैठे युवक को सम्बोधित कर कहने लगे, "भगवन्! मेरे योग्य सेवा ?" मनोज उनका सम्बोधन सुनकर ही समाधिस्थ हो गया था। कुछ क्षणों के बाद उसने हिचकिचाते हुए कहा, मैं तो—मैं तो आपके दर्शनार्थ ही चला आया था।

स्वामीजी ने जब पुनः आत्मीयता दर्शाते हुए सेवा के लिए आग्रह किया, तब मनोज ने पूछ ही लिया, स्वामीजी ! मानव जीवन का लक्ष्य क्या है ?

स्वामीजी प्रश्न की सुन्दरता को लक्ष्य कर मुस्कराये, फिर बोले—मानव-मात्र का एक ही लक्ष्य है—आत्म-साक्षात्कार—यही परम पुरुषार्थ है। सुकरात के चिन्तन का मूर्तसत्य भी यही था जिसे know-thy self कहकर आज का शिक्षितवर्ग गौरव अनुभव करता है। हम इतने चौंधिया गये हैं कि हमने अपने बारे में सोचना ही बन्द कर दिया है और दूसरी वस्तुओं के बारे में सोच-सोचकर अपने आपको वैज्ञानिक कहलवाने लगे हैं। आज का मानव अपने बारे में सोचने वाले को प्रमादी मानता है, जब कि सच यह है कि जिसने अपने बारे में जान लिया है उसने विश्व और विश्व-नियन्ता की सत्ता तक को जान लिया है।

अध्यात्म-क्षेत्र में चिन्तकों ने 'मैं' के विवेचन को सर्वोपरि स्थान दिया है। देहाभिमान के रहते हुए सत्य-साक्षात्कार सम्भव नहीं। ससीम को गलाने पर ही असीम में खोया जा सकता है।

स्वामी विवेकानन्द ने इस रहस्य को दूसरे ढंग से प्रगट किया है। उन्होंने कहा है कि जब तक जीव माया के इशारों पर नाचता है, परिस्थितियों का दास है, तब तक बेचारा है, जब वह परिस्थितियों पर नियन्त्रण पा लेता है, प्रकृति पर विजय पा लेता है, और माया को अपने इशारे पर नचाने में समर्थ हो जाता है, तब वह ईश्वर हो जाता है। ईश्वर कोई भिन्न इकाई नहीं, जीव की उन्नत अवस्था का नाम है और जब वह माया से असङ्ग हो जाता है, तब शुद्ध चेतन ब्रह्म हो जाता है। मानव-मात्र को ब्रह्म की स्थिति में पहुँचने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिये। "मानवता में पूर्णता निहित है"—इस उक्ति में दृढ़ आस्था होने पर निराशा को टिकने की जगह नहीं मिलती।

मनोज मन्त्र-मुग्ध सा इस व्याख्या को हृदयंगम कर रहा था। जब स्वामीजी ने किञ्चित् विश्राम लेने के लिये बोलना बन्द किया तब मनोज ने आत्म-साक्षात्कार

का उपाय जानने की उत्सुकता व्यक्त की।

जिज्ञासु को समक्ष पा स्वामीजी ने उन्मुक्त भाव से स्पष्ट किया कि यदि हम विवेक का आदर करें और बल का सदुपयोग, तो परिस्थितियों की दासता से सहज ही मुक्त हो जायेंगे। सामान्य जन के सामने यह समस्या मुँह वाए खड़ी हैं कि वह दुःख सुख को ही जीवन समझ कर ज़ीने का अकथ प्रयास कर रहा है और इनके भोग से उसे किसी क्षण भी निवृति नहीं मिलती है।

दुःख-सुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, कभी सुख ऊपर आ जाता है कभी दुःख। सुख-दुःख को थोड़ी देर के लिए दवा सकता है, सदैव के लिये मिटा नहीं सकता। हमें चाहिये कि हम सुख दुःख के इस सिक्के को गला ही-दें और इस पर सर्वत्र आनन्द की छाप छोड़ दें तभी सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश पा सकते हैं।

आज जहां हम हैं, हमारा जीवन दुःख-सुख के ताने-वाने से बुना हुआ है। हो सकता है किसी के जीवन में दुःख का आधिक्य हो और किसी के जीवन में सुख का। पर मात्रा का प्रश्न इतना महत् नहीं, जितना इनके भोगने का। हम जिस अंश में सुखी हैं, हमें उस अंश में सेवा का व्रत लेना चाहिये और जिस अंश में दुःखी हैं, उस अंश में त्याग का सम्बल ही हमें उवार सकता है।

सुख में सेवा और दुःख में त्याग, यही हमें यथार्थ जीवन की ओर ले जाने वाला महामन्त्र है।

दुःख निन्दनीय और स्पृहणीय मानने की भूल जब तक हमारे जीवन में वनी रहेगी तब-तक सुख-लोलुपता से मुक्त होना हमारे वशवर्ती नहीं होगा। वस्तुतः दुःख विकास की भूमि है। दुःख के विना विचार का उदय नहीं होता, विचार विना ज्ञान, ज्ञान के विना असंगता, विश्वास के विना श्रद्धा, श्रद्धा के विना भक्ति और भक्ति के विना भगवान तथा भगवान के विना परम-तत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं।

मनोज इस वैज्ञानिक विश्लेषण पर अपना सब-कुछ न्यौछावर करने के भाव से अनुप्रेरित हो प्रतीक स्वरूप दण्डवत् करने को बढ़ा तभी स्वामी जी ने वड़ी आत्मीयता से उसे उठाकर गले लगाया और कहा कि तुम होनहार युवक हो अपने लक्ष्य की ओर सतत् बढ़ते रहो, यही मेरी हार्दिक कामना है। भगवान तुम्हारा भला करें।

हरि ओऽम् तत्सत्।



सन्त पत्रावली

[१]

फतेहगढ़
२१-४-३७

प्रिय आत्मस्वरूप,

जो विचारशील पुरुष अपने को मल, मूत्र पूर्ण क्षण-भंगुर शरीर से ऊपर उठा लेता है वही संसार से पार हो जाता है, क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि जिसकी आवश्यकता शरीर के लिये न हो। हृदय को अपनी दृष्टि से स्वयं देखो कि उसमें कौन सी भावनाएँ अङ्कित, अर्थात् बैठी हुई हैं। जिस प्रकार की भावनाएँ होती हैं, उसीके अनुरूप इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की प्रवृत्ति अपने आप होती है। भावना के प्रतिकूल इन्द्रिय, मन, बुद्धि की प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती, यह अखण्ड नियम है। वास्तव में सत्य, भावनाओं से अतीत है, परन्तु अपवित्र भावनाओं (विषयों की गुलामी) के नष्ट करने के लिये हृदय में पवित्र भावनाएँ (जितेन्द्रियता, सदाचार, सेवा, त्याग) हर समय स्वाभाविक रूप से रहनी चाहिये, क्योंकि सत्य कल्पवृक्ष के समान है। जिस प्रकार की भावनाएँ होती हैं उसीके अनुरूप शक्तियाँ कर्त्ता में स्वयं आजाती हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। शरीर को अपना आपा समझने से अपवित्र-भावनाएं उत्पन्न होती हैं और आत्म-भाव उत्पन्न होने पर सब भावनाओं का अन्त हो जाता है तथा हृदय नित्यानन्द से भर जाता है। प्रिय मित्र, जब तक हृदय से विषयों की वासना का अन्त नहीं होगा, तब तक, जो हर काल में अखण्ड, एकरस तथा आनन्द का केन्द्र है, उसका अनुभव कदापि नहीं हो सकता। वासनाओं का अन्त आत्म-ध्यान से, आत्मध्यान त्याग से, त्याग सेवा से और सेवा सदाचार से ही सम्भव है।

वास्तव में उसे ही अपना सच्चा जीवन समझना चाहिए कि जो स्वाभाविक रूप से, बिना यत्न किये जीवन का अङ्ग बन जाता है। सदाचार कहीं बाहर से खरीदने की वस्तु नहीं है, वह तो अपने आप उत्पन्न होने की वस्तु है। वह बुराइयों (विषयों की गुलामी) से ऊपर उठ जाने पर

अपने आप उत्पन्न होता है। हृदयगत सद्भावनाओं को बाहर से भरने की जो कोशिश की जायगी वह स्थायी नहीं बन सकती, अर्थात् वह जीवन का स्वरूप नहीं हो सकती और कच्चे रङ्ग के समान किसी घटना-विशेष के घटित होते ही उड़ जाती हैं। इसलिये हर समय इस बात पर अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिए कि हृदय की स्वाभाविक गति क्या है ? और सरलता के साथ प्रत्येक काम को हृदय की गति के अनुकूल; पवित्र भाव से करने का स्वाभाविक यत्न करना चाहिए। किसी बाहरी सहायता की खोज कभी मत करो, क्योंकि बाहरी सहायता आत्म-विश्वास से विमुख करती है।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

अकिंचन

... .

[२]

निर्माण निकेतन राँची

११-७-७०

मेरे निजस्वरूप परम प्रिय ! बहुत बहुत प्यार,

अध्ययन कार्य करने वालों को योग्यता-सम्पादन के लिये सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए; कारण कि शिक्षित होने पर ही शिक्षार्थियों की उचित सेवा हो सकती है। शारीरिक योग्यता आदि का बल समाज के काम आता है, अपने नहीं। अपने काम तो एकमात्र निज ज्ञान का प्रकाश ही आता है, पर यह रहस्य कोई बिरले ही जानते हैं। बल संसार के लिए, त्याग (ज्ञान) अपने लिए एवं आस्था का तत्व प्रभु के लिए मिला है। बल के सदुपयोग से जगत की सेवा करो और त्याग के द्वारा मुक्त हो जाओ;एवं आस्था, श्रद्धा और विश्वास पूर्वक प्यारे प्रभु से आत्मीय-सम्बन्ध स्वीकार कर भक्त हो जाओ। मानव-जीवन सभी के लिये उपयोगी है। यह इस जीवन की महिमा है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था करो। जिन्होंने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव का निर्माण किया है वे परम स्वतन्त्र, परम उदार, एवं प्रेम से भरपूर हैं। उन्होंने उन्हीं मूल तत्वों से मानव की रचना की है। अतः मानव भी उदार स्वाधीन तथा प्रेम से भरपूर हो सकता है। यह तभी सम्भव है जब जीवन का सत्य स्वीकार करो। अब स्वयं विचार करो जीवन का सत्य क्या है ? क्या तुम निज ज्ञान के द्वारा यह अनुभव नहीं करते हो कि शरीर आदि किसी भी वस्तु के साथ न तुम सदैव रह

सकती हो और न कोई वस्तु ही तुम्हारे साथ सदैव रह सकती है। इस वास्तविकता से यह प्रकाश मिलता है कि प्रत्येक मानव को समस्त सृष्टि से निर्मम, निष्काम एवं असंग होना अनिवार्य है। जिसे मानव स्वयं कर सकता है, जिसके लिये किसी भी पराश्रय एवं परिश्रम की अपेक्षा नहीं है, जो तथ्य ज्ञान से सिद्ध है, उसके अपनाने में मानव स्वाधीन है। इतना ही नहीं वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि से निर्मम होने पर ही उसके द्वारा यथा शक्ति शरीर, परिवार, समाज और संसार की सेवा हो सकती है। विधिवत् पवित्र भाव से की हुई सेवा का अन्त त्याग में और त्याग की पूर्णता बोध में एवं बोध की पूर्णता स्वयं प्रेम में हो जाती है। कर्तव्य पालन का फल योग है। योग की पूर्णता होने पर स्वतः बोध और बोध की पूर्णता में प्रेम निहित है। इस दृष्टि से वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म से मानव को योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। योग में चिर-शान्ति बोध में मुक्ति एवं प्रेम में भक्ति निहित है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने बल का उपयोग जगत के लिये, ज्ञान का अपने लिये और विश्वास का प्रभु के लिए किया है। कर्त्तव्य-निष्ठ विवेकी और विश्वासी होकर ही मानव सभी के लिये उपयोगी होता है। जीवन किसी के लिये अनुपयोगी न हो अपितु सभी के लिये उपयोगी हो जाय इसीमें मानव जीवन की सार्थकता एवं पूर्णता है। इस माँग को सबल बनाओ। माँग के सबल होने से काम का नाश और काम के नाश से माँग की पूर्ति स्वतः होती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। विधान में अविचल आस्था करना अनिवार्य है। जब मानव यह स्वीकार करता है कि मेरी वास्तविक माँग पूरी हो सकती है, तब माँग स्वयं सबल होकर काम को खाकर अपने आप पूरी हो जाती है, अर्थात् काम की निवृत्ति माँग की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति में मानव-मात्र का जन्मजात अधिकार है। इस सत्य में विकल्प रहित आस्था करो। इसके अतिरिक्त यदि किसी को कुछ और चाहिए तो वह सदा के लिये सबके लिये सम्भव नहीं है। जो सम्भव नहीं है, उसके लिये आवश्यकता अनुभव करना भूल है। सजग मानव उसी की आवश्यकता अनुभव करते हैं जो सभी के लिये सदा के लिये सम्भव है। भोग, मोह और आसक्तियों की निवृत्ति तथा योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति मानव-मात्र के लिये सम्भव है।

अकिंचन

....

सुन्दर समाज का निर्माण



१. परिस्थितियों की एकता प्राकृतिक नियम के सर्वथा प्रतिकूल है।

२. यह नियम है कि कर्म में प्रवृत्ति जिस भाव से होती है, कर्म के अन्त में कर्त्ता उसी भाव में विलीन हो जाता है और फिर भाव विवेक से स्वतः अभेद हो जाता है।

३. यह नियम है कि जब तक मन में सच्ची एकता न होगी, तो यह एकता कालान्तर में मिट जायेगी।

४. यह नियम है कि प्रमाद अपने ही ज्ञान से मिटता है, किसी दूसरे के ज्ञान से नहीं।

५. यह नियम है कि हम जैसे अपनी दृष्टि में हैं, वैसे ही हम जगत तथा नियन्ता की दृष्टि में हो जावेंगे।

६. प्राकृतिक नियमानुसार मनुष्य मात्र को अपने दोष देखने का विवेक स्वतः प्राप्त है।

७. यह नियम है कि जो अपना गुरु बन जाता है और जो अपना नेता वन जाता है और जो अपना शासक हो जाता है, वह सभी का गुरु, शासक और नेता बन जाता है।

८. यह नियम है कि संकल्प-शुद्धि से कर्म-शुद्धि स्वतः हो जाती है।

"यह बात निर्विवाद है कि हमारे और समाज के बीच में अथवा एक दूसरे वर्ग के बीच में प्रीति के अभाव में ही संघर्ष होता है।"



साधकोपयोगी बातें

(जैसा मैंने सुना और समझा)

—श्री जीवनराम जी

भगवान में मन कसे लगे ?



मनुष्य शरीर की रचना प्रभु ने केवल जीव के कल्याण के लिये ही की है। स्वर्गादि लोकों में जितनी भोग-सामग्रियाँ हैं, वे दिव्यातिदिव्य होन पर भी उनसे जीव का कल्याण नहीं हो सकता। कल्याण तो मनुष्य-शरीर को पाकर और उसका सदुपयोग करने पर ही हो सकता है। ऐसा करने पर कल्याण की तो वात ही क्या है, भगवान ही उसके वश में हो जाते हैं, ऋणियाँ हो जाते हैं, पीछे-पीछे फिरते हैं। उसका दिया हुआ खाकर संतुष्ट होते हैं, और तो क्या मानव की गोद में खेलने के लिये वे तरसते रहते हैं। ऐसे देव-दुर्लभ शरीर को पाकर भी यदि हम अपना कल्याण नहीं कर सके तो फिर अन्य योनियों में कैसे कर लेंगे ? देखो, जिन भोग-सुखों के पीछे भटक कर हम अपने कल्याण से वंचित रह जाते हैं वे भोग - सुख तो हमें अन्य योनियों में भी मिल सकते हैं, परन्तु कल्याण की प्राप्ति तो इस मनुष्य जन्म में ही हो सकेगी और वह होगी निर्दोष और निष्काम होने पर ही प्राणी अपनी भूल से दुःखी होता है। और अपनी भूल से ही जनमता-मरता रहता है। यदि हम अपनी भूल को मिटालें तो हमारे पुनर्जन्म का और कोई कारण नहीं रह जाता। प्रभु ने भूल मिटाने के लिये ही हमें मनुष्य-जन्म दिया है, वह इस मनुष्य जन्म में ही मिट सकती है और हमें ही मिटानी पड़ेगी। हमारी भूल को न तो भगवान मिटावेंगे और न कोई संत या गुरु मिटा पायेंगे। यह तो हमें ही मिटानी पड़ेगी। वैसे भगवान क्या नहीं कर सकते, यानी सब कुछ कर सकते हैं, परन्तु भगवान का ऐसा विधान नहीं है। कारण, भगवान ने हमारी भूल को जानने का ज्ञान और मिटाने का बल हमको दिया है। यदि हम उस प्रभु की देन का सदुपयोग करने लग जावें, तो हमारी वह भूल सहज में ही मिट सकती है, परन्तु मिटानी पड़ेगी हमें

ही। चाहे तो हम भगवान का आश्रय लेकर मिटालें, चाहे किसी सन्त गुरु का आश्रय लेकर या अपने विवेक का आदर करके मिटालें। भूल को मिटाने के अनेक प्रकार हैं परन्तु मिटानी पड़ेगी हमें ही। इस पर यदि कोई कहे कि वह भूल क्या है ? तो कहना होगा कि हमने भोग सुखों के पीछे पड़कर अपने में दोषों की उत्पत्ति करली है और उनमें आसक्त होकर अपने में उनकी कामना जाग्रत करली है बस, यही भूल है। यदि इस भूल को हम मिटालें तो हमारा सहज में ही कल्याण हो जाय, यह बात परम सत्य है। सो अपनी भूल को अभी मिटाओ। यही सबका सार है।



गायत्री

● श्रीजगन्नाथप्रसादजी श्रीवास्तव एम० ए●

विमल कर दो बुद्धि मेरी।

क्षणिक वैभव पर न फूलें,
मृत्यु को क्षण भर न भूलें,
विमल कर दो बुद्धि मेरी।

पूर्ण विह्वल हो उठे यह,
आर्त स्वर में रो उठे यह,
सजल कर दो बुद्धि मेरी।

वेग वह निकले अकेला,
छोड़ कर सारा झमेला,
तरल कर दो बुद्धि मेरी।

सत्य से आंखें न मीचें,
मूल तज पल्लव न सीचें,
कुशल कर दो बुद्धि मेरी।

यह जगे जग की निशा में,
यह बहे उलटी दिशा में,
सबल कर दो बुद्धि मेरी।

श्रोत में ऐसा समाये,
यह परम विश्राम पाये,
अचल कर दो बुद्धि मेरी।

शोक हर, आलोक दे यह,
लोक दे परलोक दे यह,
सुफल कर दो बुद्धि मेरी।



सब भगवान् की लीला है

● श्री बालेश्वरजी शर्मा 'बालेश'

सब लीला है लीलामय की, तुम क्यों करते हो मन फीका—
'बालेश्वर' सुख-दुख है विधान, मंगलमय सर्वेश्वर ही का ।।
पर, यह अनुभूति न होती है तुमको तो मन में धैर्य्य धरो ।
हरि के अनुरागी, विषय-विरागी, बड़भागी का सङ्ग करो ।।
जो सुख-दुख, शीत-उष्ण, निन्दा-स्तुति द्वन्द्वों में सम रहते हैं ।
यह सब अभिनय है अभिनेता का, सन्तत यही समझते हैं ।।
है शस्य-श्यामलाभूमि कहीं, तृण-लता-रहित मरुभूमि कहीं ।
सरिता-सागर का दृश्य कहीं, वन-पर्वत-छटा विचित्र कहीं ।।
मङ्गल-उत्सव का साज कहीं, शोकातुर दुखी समाज कहीं ।
खाने को नहीं अनाज कहीं, सड़कर होता बर्वाद कहीं ।।
अतिवृष्टि और है बाढ़ कहीं, है कहीं वृष्टि का नाम नहीं ।
सुख-संचारक शुभ गन्ध कहीं, दुखदायक अति दुर्गन्ध कहीं ।।
इन सबसे हर्ष-शोक युत जो, होते प्रभु-प्रेमी सन्त नहीं ।
हरि-नाम-रूप-लीला-धामादिक का करते हैं चिन्तन ही ।।
है किन्तु सङ्ग मिलना इनका, अति कठिन तुम सदृश पामर को ।
जो विषय-वारि को छोड़, चाहता नहीं सुधा के सागर को ।।
तुम तो विषयों के चिन्तन में ही, सारा समय बिताते हो ।
हरि-नाम-रूप-लीला-रस-आस्वादन में मन न लगाते हो ।।



ईश्वर कहाँ है ?

क्राइस्ट के दो-तीन कट्टर-विश्वासी युरोपियन पादरी महर्षि रमण को दुर्भाव पूर्वक परेशान कर उनकी 'पोल' खोलने की नीयत से (!) उनके पास पहुँचे। परमात्मा के सम्बन्ध में महर्षि का कहना था कि वह "बुद्धि" का विषय नहीं। वे कहते कि बुद्धि द्वारा परमात्मा को जानने का प्रयास करना वैसा ही हास्यास्पद है, जैसे सूर्य के प्रकाश को उसके मूलाधार पर मोमबत्ती से मिलने वाली रोशनी के मापदण्ड से मापने की चेष्टा करनी ! (स्पष्ट ही है कि) सूर्य-बिम्ब के निकट पहुँचने के पूर्व ही मोम पिघल कर समाप्त हो जायगा। अतः वाद-विवाद में न पड़ कर उन्होंने क्राइस्ट का इस प्रकार प्रत्यक्ष अभिनय करके दिखाया कि उन पादरियों को हठात् कहना पड़ा कि "हमें आज साक्षात् क्राइस्ट के दर्शन प्राप्त हो गये।" पूरा प्रसङ्ग नीचे पढ़िए।

—सम्पादक

भगवान् श्री रमण महर्षि के पास बैठे हुए तीन पादरी कह रहे थे—"भोले लोगों को ठगने के लिए रोज-रोज कहते हैं कि मुझे भगवान् मिलते हैं, मैं उनके साथ दो-तीन घंटे रहता हूँ। तो कहाँ हैं वे आपके भगवान् ? बताइये।"

'यों वे ईश्वर कोई रास्ते में नहीं बैठे हैं, जो आपको मिल जायँ। प्रसिद्धि पाने के लोभ से आप लोगों को ठग कर कह रहे हैं कि मुझे प्रति दिन भगवान् मिलते हैं।' दूसरे पादरी ने कहा।

'यदि यह बात सच हो तो हमें बताइये कि वे ईश्वर कहाँ हैं ? कैसे हैं ? आपको कैसे मिलते हैं ? नहीं तो हम आपकी पोल खोल देंगे।' तीसरे पादरी ने कहा।

कमर पर लपेटे हुए एक-मात्र कपड़े के छोर को अङ्ग पर फैलाते हुए निर्विकार रमण महर्षि इस क्रोध भरी वाणी को सुन रहे हैं, पर कुछ भी बोलते नहीं। मानो समुद्र का जल किनारे के साथ टकरा कर व्यर्थ ही वापस लौट जाता हो। पादरियों ने सोचा था कि "रमण महर्षि अभी क्रोध करेंगे, अपनी बेइज्जती भरे इन वचनों को सुन कर कुछ उल्टा सीधा बोल उठेंगे तो अपने झगड़ा करने में सुविधा हो जायगी।' पर शान्ति के महासागर के समान रमण महर्षि बोले—'आपको

भगवान् बताऊंगा, आप कल सवेरे यहाँ आइये।'

पादरी उठ कर चले गये और रमण महर्षि अपने काम में लग गये। दूसरे दिन प्रभात से पहले ही तीनों पादरी रमण महर्षि के आश्रम पर आ खड़े हुए। रमण महर्षि भी स्नान-पूजन और नित्य-कर्म पूरा कर के नंगे बदन पादरियों की राह देख रहे थे। उन तीनों के आकर खड़े होते ही बोले—'चलिये मेरे साथ, आपको भगवान् दिखाऊँ।'

रमण महर्षि आगे चले। पीछे तीनों पादरी चलने लगे। चलते-चलते लगभग तीन मील का रास्ता समाप्त होने पर एक जंगल आया। जंगल में कुछ आगे जाने पर एक झोंपड़ी मिली। रमण महर्षि अन्दर चले गये। पादरियों ने झोंपड़ी के अन्दर की ओर देखा तो उन्हें दो कोढ़ी पति-पत्नी दिखायी दिये और दुर्गन्धि से उन्होंने अपनी नाक दबा ली। इतने में रमण महर्षि ने कहा—'आप जरा बाहर बैठिये।'

तीनों पादरी बैठ कर रमण महर्षि क्या करते हैं—यह देखने लगे। रमण भगवान् झोंपड़ी में पड़े हुए कोढ़ी पति-पत्नी के पास बैठ गये। मीठी मोहनी मुसकान के साथ उन लोगों के प्रति उन्होंने आश्वासन के वाक्य कहे। फिर अपने पास की तेल की शीशी में से तेल लेकर बदबू मारते उस कोढ़ी पुरुष के शरीर पर अपने हाथ से तेल मालिश करने लगे। हाथ, पैर, कपाल, पेट, छाती, पेडू—सभी जगह तेल मालिश किया। तदनन्तर इसी प्रकार स्त्री के शरीर पर भी तेल मालिश किया। तेल मालिश के बाद बाहर निकल कर खूब मल कर हाथ धोये फिर, झोंपड़ी के आस-पास कुछ दूर तक से चुन-चुन कर थोड़ा ईंधन इकट्ठा किया और उसे लाकर तीन पत्थरों का चूल्हा बना कर साथ लाये हुए साधनों से उसमें आग सुलगायी और उस पर गरम पानी रखा। फिर, उसमें साफ की हुई खिचड़ी डाल दी। खिचड़ी पक जाने पर उसे उतार कर रमण महर्षि ने उन दोनों कोढ़ियों को बैठाकर स्वयं उन्हें खिलाया। तदनन्तर जल पिला कर दोनों को बिछौने पर सुला दिया।

इस सारे काम में रमण महर्षि को पूरे तीन घण्टे लगे। इस सेवा को पूरी करने के बाद कमर पर हाथ रखकर माधुर्य बरसाते हुए वे तीनों पादरियों के सामने खड़े होकर मानो मूक भाषा में यह कहने लगे कि देखिये, ये मेरे भगवान् हैं और रोज मुझ से तीन घण्टे मिलते हैं तथा मैं उनकी सेवा करता हूं।

पादरी यों समझदार तो थे ही,

अत: इन सारी क्रियाओं से निपट कर रमण महर्षि ज्योंही खड़े हुए कि ये तीनों उनके चरणों पर झुक-कर गद्-गद् हो गये। दूसरे दिन इन तीनों पादरियों ने सब जगह यह कहा कि—"कल हमने खुद ईसा के दर्शन किये।"

—साभार 'कल्याण' से

धर्म

सब धर्म एक ही स्थान पर पहुँचने के अलग-अलग मार्ग हैं। अगर हम एक ही लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं, तो अलग - अलग मार्ग अपनाने में क्या हर्ज ? वास्तव में जितने मनुष्य हैं उतने ही धर्म हैं।

मेरे लिये जगत के विभिन्न धर्म एक ही उद्यान के सुन्दर पुष्प हैं, या एक ही विशाल-वृक्ष की शाखाएँ हैं। इसलिए वे समान रूप में सत्य है, यद्यपि उनकी प्रेरणा ग्रहण करने वाले और उनका अर्थ लगाने वाले मनुष्य हैं इसलिए वे सब समान रूप में अपूर्ण भी हैं।

—महात्मा गान्धी



(शेष पृष्ठ ६ का)

"बिधिबस सुजन कुसंगति परहीं।
फनि-मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥"

इस उक्ति के अनुसार कठिनाइयाँ सहते हुए भी उसने अपने स्वभाव को नहीं बदला, सांसारिक सुख-मरीचिका में कोई उसे भुला नहीं सका।

एक त्यौहार के दिन सोफ़िया की आज्ञानुसार एलिज़बेथ सज-धज कर उपासना-मन्दिर में जा रही थी। अचानक उसकी निगाह काँटों का मुकुट पहने क्रूस पर जेड़ प्रभु ईसा-मसीह के चित्र पर पड़ी। एलिज़बेथ का हृदय व्यथित हो उठा, उसके नेत्र सजल हो गये, उसने अपना रत्न जटित मुकुट उतार दिया और नत-मस्तक हो प्रार्थना करने लगी। नंगे सिर देख सोफ़िया ने उसे झिड़का, "निर्लज्ज की भाँति तुम्हारे नंगे सिर यहाँ बैठने से हमारी बद-नामी होती है।" एलिज़बेथ ने बड़े विनय के साथ उत्तर दिया, "प्रभु के सिर पर काँटों का मुकुट है। उनके सामने स्वर्ण-मुकुट धारण करना क्या उनका अपमान नहीं होगा ? मैं ऐसा न कर सकूँगी, माँ। ऐसा कहते-कहते उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी।

कुछ दिन पश्चात् राजकुमार लुई विदेश से वापस आ गये। उनके सामने राजमहल की महिलाओं ने एलिज़बेथ की शिकायत की झड़ी लगा दी। राजकुमार तो एलिज़बेथ के स्वभाव से परिचित थे ही, उसके प्रति उनका प्यार और भी बढ़ गया। उन्होंने कहा, "सोने से मढ़े पहाड़ की अपेक्षा भी मैं एलिज़बेथ के धार्मिक भावों को अधिक मूल्यवान समझता हूँ। एलिज़बेथ को आश्वासन देते हुए उन्होंने कहा, "थोड़े दिन और धैर्य रक्खो, यह मुसीवत शीघ्र ही दूर हो जायगी।" एलिज़बेथ स्वयं ही धैर्य की मूर्ति थी, इन शब्दों ने राजकुमार के प्रति उसका आदर-भाव और भी दृढ़ कर दिया।

कुछ ही दिनों में राजकुमार उन्नीस वर्ष के होगये। वयस्क हो जाने से वड़ी धूम-धाम से उनका विवाह एलिज़बेथ के साथ हुआ। योग्य जोड़ी पाकर दोनों ने अपने-अपने भाग्य की सराहना की। थोड़े दिन पश्चात् वे दोनों राजसिंहासन पर बैठे। इन्हें राजा-रानी के रूप में पा प्रजा निहाल हो गई।

एलिज़बेथ के ये सुख के दिन थे, पर उसने सुख का उपभोग नहीं किया। वह अपने प्रभु, अपने धर्म और दीन-दुखियों को भूली नहीं। "अपने सम्पूर्ण हृदय की सारी शक्ति से प्राणों से भी अधिक भगवान से प्रेम करो। अपने पड़ोसी से अपने समान ही प्रेम करो।" प्रभु ईसा-

मसीह के इस उपदेश के अनुसार अपने जीवन को ढालने का उसने पूरा प्रयत्न किया। उसका सारा समय उपासना, प्रार्थना और सेवा में ही बीतता था। रात को जब उसके स्वामी सो जाते, तब भी उस प्रेम-दीवानी को नींद नहीं आती। भोग-विलास, भूख-प्यास और नींद सब भुलाकर वह अपने परम प्रियतम के प्रेम में डूबी रहती। गुरुवार के दिन बारह कोढ़ियों के पैर धो भिखारिनी वेष में नंगे पाँव वह उपासना-मन्दिर में जाती। पवित्र शुक्रवार (Good friday) के दिन को वह दीनता का दिन समझती, अपने सेवकों को भी अपने प्रति सम्मान प्रकट करने नहीं देती और नगर के बीच मैदान में जाकर एकत्रित भिखारियों को खुले हाथों दान देती।

(अपूर्ण)



दुःख में यदि सुखद स्मृतियों को महत्व न दिया जाय तो दुःख का प्रभाव दुखी को दुःख-रहित कर उस जीवन से अभिन्न कर देता है, जिसमें शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम से भिन्न कुछ नहीं है।

× × × ×

असफलता-जनित वेदना सफलता की जननी है। यह कैसा अद्भुत विधान है कि अभाव की वेदना में पूर्णता की प्राप्ति निहित है। आवश्यकता ही एकमात्र जिसकी प्राप्ति का उपाय है, उससे निराश होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है।

× × × +

जो बुराई, बुराई के वेष में आती है उससे उतनी क्षति नहीं होती, जितना विनाश उस बुराई से होता है जो भलाई का वेष धारण कर आती है। सुधार के नाम पर संघर्ष का जन्म इसी प्रमाद से होता है।

—मंगलमय विधान से

मानव सेवा सङ्घ शाखा, करनाल का

वार्षिक संक्षिप्त विवरण १९७०

मानव सेवा संघ शाखा, करनाल का सन् १९७० का वार्षिक कार्य-विवरण प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। जिस सेवा, त्याग, प्रेम एवं कर्तव्य-परायणता का परिचय यह शाखा विगत वर्षों से देती चली आ रही है, वह हमारी अन्य सभी शाखाओं के लिए एक आदर्श अनुकरण एवं प्रेरणा के योग्य है। मानव सेवा संघ का लक्ष्य वस्तुतः इसी प्रकार की क्रियात्मक सेवा द्वारा पूरा हो सकता है।

संघ के आजीवन कार्य-कर्त्ता, बालब्रह्मचारी हमारे परम प्रिय श्री भाई हरिरामजी गुप्ता एम० ए०, (मन्त्री, शाखा सभा) के नेतृत्व में इस शाखा ने गत वर्ष निम्न सेवा-प्रवृत्तियों को सुचारुरूप से चलाकर उन्हें सफल बनाया—

विभिन्न सेवाएँ

१. असहाय विधवाओं, पीड़ितों व निर्धन विद्यार्थियों की सेवा :

इस सेवा का भाव है सुखी-दुखी के काम आए कि जिससे समाज में सङ्घर्ष न रहे, क्योंकि सबल व निर्बल की एकता ही समाज का सुन्दर चित्र सैकड़ों पीड़ितों की सहायता पर ८,०४६ रु० २७ पैसे व्यय हुए।

२. अन्न-द्वारा दीनों की सेवा :

कुछ महानुभावों ने सुझाव दिया कि इसके लिए नई मण्डी से गेहूँ व जीरी तथा मिलों से चावल इकट्ठे किए जायं। यह योजना बड़ी सफल रही। क्षुधा-पीड़ितों की इस वर्ष २५ बोरी जीरी, २४ बोरी गेहूँ व २० बोरी चावलों द्वारा सेवा हुई।

३. प्याऊ तथा जल-सेवा :

मुख्य रूप से ग्रीष्म ऋतु में रेलवे स्टेशन, पार्क नई मण्डी, जी० टी० रोड, कचहरी, चौड़ा बाजार इत्यादि १० स्थानों पर बर्फयुक्त ठण्डा जल पिलाने की व्यवस्था चलती रही। जलसों व जलूसों में भी यह सेवा हुई। रैडक्रॉस ने २०० किलो प्रतिदिन व अन्य सभी स्थानीय आइस-फैक्ट्रियों नें २०–२० किलो बर्फ प्रतिदिन देने की कृपा की।

४. वृद्धावस्था-पेन्शन :

सामाजिक-सुरक्षा के उद्देश्य से हरियाणा सरकार से असहाय वृद्धों के लिए २५ रुपये मासिक पेन्शन की व्यवस्था है। असहाय पुरुष कम से कम ६५ वर्ष और असहाय स्त्री कम से कम ६० वर्ष की होनी चाहिए। हरियाणा सरकार इस सेवा के लिए बधाई की पात्र है। मानव सेवा संघ करनाल नें इस प्रकार के अभाव-पीड़ित वृद्धों की सेवा के विचार से ६० व्यक्तियों के प्रार्थना-पत्र-पूरी कार्यवाही करके भिजवाए और वे सभी स्वीकार हुए। इस प्रकार प्रति वर्ष १८,००० रुपये हरियाणा सरकार की उदारता से स्थानीय असहायों को प्राप्त हो रहे हैं।

५. रोगी सेवा व फ्री डिस्पैन्सरी :

मानसिक रोगियों के फ्री कैम्प तो डा० विद्यासागर जी के सहयोग से कई वर्षों से चल रहे हैं। इस वर्ष भी मई मास में एक फ्री कैम्प लगा। श्री डी० पी० गुप्ता मैनेजर, पंजाब नेशनल बैंक, बल्लभगढ़ की प्रेरणा से फ्री डिस्पैन्सरी का शुभारम्भ १६ सितम्बर, १६७० से कर्णपार्क में चल रहे पुस्तकालय के साथ हुआ। दिसम्बर १६७० तक की अल्पावधि में १६,२५७ रोगियों की सेवा की गई। ४ नवम्बर, १६७० को हरियाणा राज्य की वित्त-मंत्री श्रीमती ओमप्रभा जैन पधारीं और १,००० रुपया अनुदान औषधियों के लिए दिया। डा० के० एन० दत्त जी, डा० किशनसिंह जी, डा० बालकृष्ण जी, अपना बहुमूल्य समय रोगी-सेवार्थ दे रहे हैं इन महानुभावों के अतिरिक्त और भी बहुत से महानुभाव हैं। जिनसे १० रुपये से कम इस सेवार्थ मिल रहे हैं। इस सेवा पर ५,२७३ रुपये १२ पैसे का व्यय हुआ।

६. कर्णपार्क में पुस्तकालय तथा वाचनालय :

नगरपालिका तथा जनता के सहयोग से नगर के कर्णपार्क के मुख्य

द्वार पर गत कई वर्षों से चल रहा यह पुस्तकालय तथा वाचनालय ज्ञानपिपासुओं की अच्छी सेवा कर रहा है। नगर पालिका ५० रुपया मासिक और रेडक्रॉस ५०० रुपया वार्षिक सहायता दे रही है। श्रीराज आनन्दजी ने इस वर्ष ५० पुस्तकें भेंट की। इस सेवा पर व्यय ४,०८८ रुपये ३७ पैसे का हुआ।

७. फ्री साइकिल स्टैन्ड की व्यवस्था:

ग्रीष्म ऋतु में कर्ण पार्क के मुख्य द्वार पर साइकिलों को फ्री रखने का प्रबन्ध किया गया।

८. सत्संग समारोह व सत्संग :

साप्ताहिक सत्संग कर्ण पार्क में चलता रहा। सत्संग-सप्ताह परम पूज्य श्री स्वामीजी महाराज व भक्तिमती देवकी देवीजी के संरक्षण में सम्पन्न हुआ।

९. मानव सेवा संघ विद्या मन्दिर :

इसका उद्देश्य प्राप्त शिक्षण-शुल्क को सेवा में लगाना व निर्धन विद्यार्थियों को निःशुल्क पढ़ाना है। इसके द्वारा १९७० में २,१४० रुपये की आय हुई।

१०. सदस्य :

केन्द्रीय सभा के २६० सदस्य बनाए गये। प्रत्येक सदस्य का वार्षिक शुल्क सवा रुपया है। अधिकतर साधारण सदस्य वे ही हैं जो शाखा के मासिक सहायक सदस्य हैं। इस कारण उनका शुल्क उनकी मासिक-सहायता में से भेज दिया जाता है।

११. 'जीवन-दर्शन' मासिक पत्रिका :

संघ की सर्व-हितकारी विचार धारा तथा साधान-प्रणाली को अधिक से अधिक लोगों तक पहुंचाने के उद्देश्य से केन्द्र द्वारा प्रकाशित हो रही है जिसका वार्षिक ग्राहक मूल्य ५) है। १९७० में ३२५ ग्राहक बने। इसका वार्षिक-शुल्क भी प्रायः शाखा के मासिक-सहायकों की सहायता में से ही भेज दिया जाता है।

मासिक सहायक सदस्य

मासिक-सहायकों से प्राप्त धन-राशि का सदुपयोग इस रूप में किया जाता है कि सबल निर्बल के काम आए, क्योंकि बल निर्बलों की धरोहर है। मासिक धन देने वाले दिन प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। स्थानाभाव के कारण सभी दानी सज्जनों की नामावली देना सम्भव नहीं है। मोटा विवरण इस प्रकार है—

मासिक सहायता की राशि	२००)	१०१)	५१)	२१) से ३१) तक	१०),११)	५)	५) से कम
देने वालों की संख्या	२	३	२	७	१५	७५	४००

वर्ष	दान द्वारा आय	सेवा-कार्यों में व्यय	मासिक धन देने वालों की संख्या
१६७०	२६,१६८ रु. ४२ पै.	२६,१६८ रु. ४८ पै.	७८०

अपनी भूलों के लिये क्षमा याचना करते हुए प्रभु की अहैतुकी कृपा तथा अपने समस्त सहायकों एवं सहयोगियों के प्रति हम हृदय से कृतज्ञ हैं कि जिनके स्नेह, सद्भावना और सहयोग से ही उपरोक्त सेवा-कार्य सम्पन्न हो सके।

मुक्तेश्वरी, एम. ए.
प्रधान मन्त्री

संस्थापक सदस्य

३६१. श्री भगवती ट्रेडिंग कम्पनी
श्री गंगानगर
३६२. श्रीमती सुषमा अग्रवाल, दिल्ली
३६३. माडर्न गैस कम्पनी, गुलवर्गा (मैसूर)
३६४. दी बिहारी मिल्स लि०
अहमदाबाद—१
३६५. श्रीमती विमला लाल, नई दिल्ली—३
३६६. श्रीमती पुष्पा ढांढा नई दिल्ली—३
३६७. श्री विश्वनाथ जी जालान, पुरुलिया
३६८. श्री आनन्दस्वरूप जी, देहरादून
३६९. मिस्ट्रेस कमला खन्ना, मेरठ
४००. श्री आर० एल० सिंह
हंडिया (इलाहाबाद)
४०१. श्री भरतसिंह यादव, शिमला
४०२. श्रीमती सुषमा शुक्ल, जमशेदपुर
४०३. मारवाड़ी बहु उद्देशीय उच्चतर
माध्यमिक विद्यालय, रांची
४०४. मारवाड़ी कालेज, रांची
४०५. श्रीमती मनोरमा शुक्ल
सीवान (बिहार)
४०६. श्रीमती उषा गुजराल 'अवन्ती'
लखनऊ
४०७. श्री भुवनेश्वरनाथ जी मिश्र 'माधव'
गया
४०८. श्री प्रेमप्रकाशसिंहजी रेवती (बलिया)
४०९. डा० रामनाथजी गुप्ता, दिल्ली—६
४१०. श्री गोविन्दलाल जी अग्रवाल
नागपुर—२
४११. मैं० साबु टेक्सटाइल, नागपुर—२
४१२. श्री लक्ष्मीनारायण गोरीशंकर
नागपुर—२
४१३. श्री मणि पाण्डेय, कुटुम्बा (गया)
४१४. श्रीमती कमला भार्गव
बापूनगर (जयपुर)
४१५. श्री सी०जी० सांधी, दुर्गापुरा (जयपुर)
४१६. श्री रामकुमार जी जालान, दिल्ली

नम्र निवेदन

सर्व साधारण की सूचनार्थ निवेदन है कि 'जीवन दर्शन' पत्रिका के पुराने अङ्क आधी कीमत पर कार्यालय में उपलब्ध हैं। डाक-व्यय अलग से है। वर्ष—दूसरे, तीसरे के फुटकर अङ्क तथा चौथे-पाँचवें के पूरे १२ अङ्कों के सैट प्राप्य हैं।

जिन महानुभावों को चाहिये वे पहले कीमत भेजकर अथवा वी०पी० से भी मँगवा सकते हैं।

व्यवस्थापक :

'जीवन दर्शन'

"जीवन-दर्शन"

संघ का मुख-पत्र

आवश्यक नियम

१–'जीवन-दर्शन' प्रत्येक मास के दूसरे सप्ताह में प्रकाशित हुआ करेगा। इसका वर्ष १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक रहेगा। बीच में ग्राहक बनने वालों के लिये भी वर्ष १ जनवरी से ही प्रारम्भ होगा।

२–पत्र का उत्तर तथा लेख वापस पाने के लिये आवश्यक डाक-टिकट भेजें। पत्र-व्यवहार करते समय **कृपया अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें।**

३–पता बदलने के लिये एक मास पूर्व लिखना चाहिये।

४–जीवन-दर्शन-संचालन की योजना को सफल बनाने के लिए जो महानुभाव अपने सामर्थ्य के अनुसार १०१), २५१), ५०१) या ११०१) रु० प्रदान करेंगे, वे इसके संस्थापक सदस्य कहलायेंगे। उनकी सेवा में पत्रिका आजीवन भेंट-स्वरूप, निःशुल्क भेजी जाती रहेगी।

उक्त रकमें एक वर्ष की अवधि में किश्तोंमें भी पूरीकी जा सकती हैं।

५–पत्रिका सम्बन्धी सारा पत्र-व्यवहार निम्नलिखित पते से करना चाहिए

व्यवस्थापक,
'जीवन-दर्शन' कार्यालय,
मानव सेवा संघ, वृन्दावन (मथुरा)

वार्षिक मूल्य : ५ रुपये | एक प्रति का : ४५ पैसे

मुख्य सम्पादक : हनुमन्तसिंह

License No.60 Regd No.L--564
Licensed to post without pre-payment.

सत्संग-सप्ताह



हमें ऐसा सूचित करते हुए बड़ा हर्ष है कि प्रति वर्ष की भांति होली के अवसर पर सम्पन्न होने वाला हमारा "सत्संग सप्ताह" इस वर्ष आगामी ७ मार्च से १३ मार्च, सन् १९७१ तक मानव सेवा संघ आश्रम, वृन्दावन में संपन्न होगा और इसी अवधि में दिनांक ८ व ९ मार्च को संघ की केन्द्रीय कार्यकारिणी की बैठकों का आयोजन किया गया है।

सत्संग तथा संघ के सभी प्रेमी भाई-बहिनों की सेवा में निवेदन है कि वे इस पुनीत अवसर पर मानव-मनोविज्ञान-सम्मत एवं संघ-प्रतिपादित साधन-प्रणाली व विचार-धारा को सुनने व समझने के इस विरल सुयोग से लाभ उठाने की कृपा करें। संघ के सदस्यों, पदाधिकारियों तथा कार्य-कर्ताओं को इस आयोजन में सम्मिलित हो कर अपने पवित्र दायित्व को पूरा करने तथा सत्संग-सुधा का पान कर जीवन को सार्थक बनाने का दोहरा और परम लाभ है।

समस्त शाखा-सभाओं के मंत्रियों से सादर निवेदन है कि वे संघ की उपरोक्त बैठकों में भाग लेने के लिए अपनी-अपनी शाखाओं द्वारा मनोनीत प्रतिनिधियों की शुभ नामावली तथा शाखा का वार्षिक कार्य-विवरण शीघ्र भेजने में विशेष तत्परता की ओर ध्यान देने की कृपा करें। केन्द्र की वार्षिक रिपोर्ट का पूरा हो पाना आपके सहयोग पर ही निर्भर है।

विनीता:-
मुक्तेश्वरी, एम० ए०,
प्रधान मंत्री

मुद्रक व प्रकाशक--श्रीगोविन्दजी, भू. पू. प्रधान मन्त्री, मानव सेवा सङ्घ के लिये प्रीतमलाल गोस्वामी द्वारा रतन प्रेस, अठखम्भा वृन्दावन में मुद्रित।